चतुर्थ अध्याय

मराठी की दलित आत्मकथाएँ और समाजशास्त्रीय अध्ययन

भारत भौगोलिक रूप से बहुत विस्तृत देश है। यह बहुत राज्यों एवं केंद्र शासित राज्यों में विभक्त है। भारत के सामाजिक संरचना को समझने के लिए राज्यों के भौगोलिक एवं भाषीय स्थिति को समझना होगा। उन्हीं राज्यों में एक महत्त्वपूर्ण राज्य है महाराष्ट्र। जो दक्षिण भारत से लगा हुआ है। महाराष्ट्र का एक भाग समुद्री सीमा से भी लगता है। "चंदोर और इरोर मंजीरा जो कृष्णा पर बसा हुआ है के बीच का भाग निश्चय ही अत्यंत निश्चित रूप से मराठा देश है। इस भूभाग की भाषा में सबसे कम परिवर्तन है। पूर्व निर्धारित नियम का अधिक विस्तृत रूप से अनुगमन करने पर महाराष्ट्र वह भूभाग है जिसके उत्तर में सतपुड़ा पर्वत श्रेणियाँ हैं और जो पश्चिम में नान्दोर से आरंभ होकर इन पर्वत श्रेणियों के किनारे-किनारे नागपुर के पूरब वेनगंगा तक फैला हुआ है। वर्धा नदी से इसका संगम होने तक, इस की पूर्वी सीमा है। यह भूभाग इन दोनों नदियों के संगम से आरंभ होकर, वर्धा नदी के पूर्वी तट से मनिक दुर्ग तक और वहाँ से पश्चिम की ओर महोर तक रेखांकित किया जा सकता है। महोर से गोवा तक एक लहरदार रेखा खींची जा सकती है। समुद्र इसकी पश्चिमी सीमा है।"[1] भौगोलिक आधार पर देखें तो महाराष्ट्र बहुत ही विस्तृत सीमा क्षेत्र से लगा हुआ है। जहाँ पर्वत श्रेणियाँ, नदियाँ एवं समुद्र तट भी इसकी सीमाओं में आते हैं। इतने बड़े भूभाग पर जो भी समाज निवास कर रहा होगा, वह सांस्कृतिक रूप से भी बहुत विकसित होगा। आधुनिक समय में भी महाराष्ट्र की संस्कति के कई स्वरूप देखने को मिलते है। "महाराष्ट्र पहाड़ी देश है। इसकी घाटियाँ सुसिंचित हैं और इसकी जलवायु संभवत: भारत भर में सर्वाधिक स्वास्थ्यकर है किंतु खेती-बाड़ी मिट्टी और उपज में या भारत के अन्य उपजाऊ प्रदेशों की समता नहीं कर सकता।

नर्मदा, ताप्ती, गोदावरी, भीमा और कृष्णा यहाँ की मुख्य नदियाँ हैं। इन नदियों के किनारे कुछ दूर तक की मिट्टी साधारण है उत्कृष्ट है और यहाँ की उपज की समृद्धि और प्रचुरता की बराबरी नहीं

की जा सकती। गोदावरी (मराठे से गंगा कहते हैं), भीमा और उनकी सहायक नदियाँ, नीरा और मान के तट की घोड़ों की नस्ल के लिए विख्यात हैं। विशेषकर नीरा और मान के तटों के घोड़े छोटे होने पर भी दक्षिण की घोड़ों में सर्वोत्तम और सर्वाधिक पुष्ट होते हैं।"[2] सांस्कृतिक एवं परंपरागत रूप से कुछ न कुछ सभ्यताएँ विकसित हुई होंगी और इन्हीं को अभिव्यक्ति के लिए सर्वप्रथम भाषा का प्रयोग हुआ होगा। इस भूभाग में अनेक बोलियाँ बोली जाती हैं। लेकिन मराठी भाषा इस भूभाग की एक सर्वमान्य भाषा है जो अपभ्रंश से विकसित हुई।

"महाराष्ट्र-भाषा-भाषी जनता परिश्रमशील, रूखी, बुद्धि-प्रधान, कम भावुक और लगनशील हैं। वे जिस किसी कार्य को लेते हैं, उसमें पूरे प्राण-पण से जुड़ जाते हैं। राम गणेश गडकरी उर्फ 'गोविंदाग्रज' कवि ने महाराष्ट्र-वंदना में इसका वर्णन करते हुए कहा है कि 'यदि फूलों का देश है वैसे पत्थरों का भी है। यह मजबूत शरीर वाले और मोटा-झोटा खाने-पहनने वालों का देश है।' क्या बात बहुत अंशों में सही है।"[3] महाराष्ट्र राज्य के नामकरण को लेकर विद्वानों में मतभेद दिखाई पड़ते हैं। महार जाति के निवास के कारण इस क्षेत्र का नाम महाराष्ट्र पड़ा, लेकिन कुछ विद्वान ऐसा नहीं मानते हैं उनके अनुसार महाराष्ट्र की व्युत्पत्ति 'मरता तब हटता'। इस शब्द के प्रयोग बताई गई है। जो वीर सैनिकों के लिए होता रहा होगा। लेकिन यह कारण भी यथोचित नहीं लगता है। 'मर हट' शब्द से भी लोग महाराष्ट्र प्रदेश की व्युत्पत्ति मानते हैं, जो युद्ध भूमि में मरने के बाद ही हटता है। कुछ विद्वान महार+राष्ट्र बराबर महाराष्ट्र।

4.1 मराठी समाज और दलित:

महाराष्ट्र प्रदेश में निवास करने वाली बहुसंख्यक जनता हिंदुओं की है। महाराष्ट्र में जैन, बौद्ध, मुस्लिम, पारसी अन्य धर्मों के लोग निवास करते थे। लेकिन महाराष्ट्र में हिंदुओं बहुसंख्यक है अन्य धर्म के लोग अल्पसंख्यक है। "इस प्रदेश की अधिकांश जनता हिंदुओं की है जो शास्त्रों के अनुसार चारों वर्णों में विभक्त हैं, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। यह चारों वर्ण नाम मात्र के लिए परिलक्षित

किंतु भ्रष्ट, लुप्त और बहुत ही अधिक उप-विभाजित हैं। ब्राह्मण पुरोहिती कहते हैं। इनका जीवन भगवान की पूजा और ध्यान में तथा आचरण उपदेश द्वारा व्यवहारिक शिक्षा देने में लगा रहना चाहिए जिससे कि मनुष्य देवताओं का आग्रह प्राप्त कर पुनर्जन्म होने पर और अधिक ऊँची स्थिति प्राप्त करें। उनको सांसारिक बातों में हाथ ना डालना चाहिए। किंतु वे बहुत दिनों से सब हिंदू राज्यों में मुख्य नागरिक और सैनिक अधिकारी होते आए हैं। वे ब्राह्मण जो कठोरता से अपने धर्म के सिद्धांतों का अनुगमन करते हैं और धर्म शास्त्रों के ध्यान में अपना जीवन लगाते हैं, बड़ी श्रद्धा से देखे जाते हैं।"[4] भारत की सामाजिक संरचना के अनुसार ही महाराष्ट्र समाज में हिंदुओं के चार वर्ण हैं। जिसमें ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ माना गया है। ब्राह्मणों का मुख्य कार्य पूजा-पाठ ध्यान का है लेकिन ब्राह्मण राजा महाराजा और सैनिक अधिकारियों के पद को भी सुशोभित करता रहा है। प्रत्येक वर्ण की अपनी-अपनी उपजातियाँ रही हैं। उसी प्रकार ब्राह्मणों में भी उनकी कुछ उपजातियाँ रही हैं। महाराष्ट्र में ब्राह्मणों के आठ वर्ग बताए गए हैं। जिनके रीति-रिवाज एक दूसरे से अलग अलग हैं। दूसरा वर्ण क्षत्रिय का है। क्षत्रिय महाराष्ट्र में बहुत कम संख्या में मिलते हैं। यही कारण है कि ब्राह्मण समाज के लोग राज-काज भी देखते है। तीसरा वर्ग वैश्य है, और अंतिम वर्ग शूद्र है। इन चार वर्गों के अलावा भी महाराष्ट्र में एक बहुसंख्यक जनता है जिनको वर्णशंकर की संताने हैं, जिनके अपने व्यवसाय और अपने समुदाय हैं और इनकी गणना हिन्दू धर्म में की जाती है। "इन चार वर्णों के अतिरिक्त विशाल हिंदू समुदाय में चार वर्णों की वर्णशंकर संतानें और उनकी आपस की वर्णसंकर संतानें हैं। इन वर्णशंकारों के अपने ही समुदाय, श्रेणियाँ, व्यवसाय और विशेष धंधे हैं। इनकी संख्या अगणित है। सब शिल्पी और कारीगर इसी अवैध वंश के हैं। महाराष्ट्र में इनकी गिनती शंकर जाति में की जाती है।"[5]

मराठी समाज में यह समुदाय हिन्दू मान्यताओं के आधार पर जीवन यापन करता था। यह समुदाय समाज में उच्च वर्ग की स्थिति नहीं प्राप्त कर सकता था चाहे वह उच्च वर्ग के पुरुष से पैदा हुआ हो। वह समाज में मेहनतकश कार्य करके अपना आजीविका चलाता था। "महाराष्ट्र में रहने वाले आर्य भोज और यादव जाति के थे। अत: उनकी भाषा शौरसेनी से लगी हुई थी। महाराष्ट्र कुछ

मामलों में मागधी और विशेषता अर्द्धमगधी से बहुत-कुछ मिलते जुलते हैं। इसका कारण पूर्व की ओर उनका महाराष्ट्र से संबंध था। अपभ्रंश की उत्पत्ति ईसा की पांचवी-छठी शती में हुई। ईसा की दसवीं-ग्यारहवीं शती में अपभ्रंश को आज का रूप मिला। मराठी भाषा और अन्य भारतीय भाषाओं का उद्गम इसी समय हुआ। मागधी से बंगाली, महाराष्ट्री से मराठी, पैशाची से पंजाबी, शौरसेनी से हिंदी।"[6]

महाराष्ट्र में ब्राह्मण भक्त तीन प्रकार के भक्त होते थे ब्रह्मचारी, वानप्रश्थी और सन्यासी। यद्यपि बनियों के भी अपनी भक्ति के स्वरूप है। लेकिन इन सब में से गोसाई, वैरागी तो ऐसे भक्त संप्रदाय थी जो बहुत ही प्रचलित जिन्हें किसी भी वर्ग का व्यक्ति धारण कर सकता है। गोसाई शैव भक्त होते थे और वैरागी वैष्णव होते थे। मराठा समाज में वैरागियों की अपेक्षा गोसाईयों की संख्या अधिक है। गोसाई के वस्त्र नारंगी रंग के होते हैं यह रंग महादेव का प्रतीक है यह समाज के सभी कार्य कर सकते हैं। कुछ गोसाईं ऐसे भी हैं जो कपड़े नहीं पहनते हैं वे शैव कहे जाते थे। लेकिन जो बाल, दाढ़ी और नाख़ून नहीं कटाते वे पवित्र समझे जाते थे। कुछ वैरागी शूद्र है जिनका मुख्य काम कृषि था। मराठा समाज में स्त्रियों की स्थिति अन्य जगहों से बेहतर है वह अपनी पति की दासी नहीं बल्कि संगिनी होती हैं। मराठी स्त्रियाँ भी पर्दा करती थी और अपने पति की मृत्यु के बाद सती हो जाती लेकिन बच्चों के पालन पोषण के लिए वह सती नहीं भी होती थी और परिवार को चलाने के लिए घरों से बहार निकलकर काम करती थी। "मराठों का विश्वास है कि ब्रह्म स्वयं कर्ता नहीं है। ब्रह्म से प्रकृति, ब्रह्मा, विष्णु और शिव की उत्पत्ति हुई है। सावित्री, लक्ष्मी और पार्वती क्रमश: उनकी पत्नियाँ है। ब्रह्मा ने संसार की रचना की है। उसने मनुष्यों की सृष्टि की है और स्वयं भी अवतार लिया है। वह देव तथा दैत्यों का पिता है। इंद्र देवों का ईश है और बलि दैत्यों का। विष्णु और शिव तथा उनकी पत्नियों ने भी अवतार ग्रहण किए हैं और अपने जन्म लेने के उद्देश्य की पूर्ति के हेतु अनेक-अनेक रूप धारण किए है ब्रह्मा, विष्णु और महादेव के तैतीस करोड़ देव हैं।"[7]

मराठी समाज हिंदू धर्म की मान्यताओं में विश्वास करता है और ब्रह्मा, विष्णु, महेश को सृष्टि का संचालक मानता है। इसी के साथ-साथ प्रत्येक समाज के अपने-अपने एक कुलदेवता भी होते हैं। जिसकी वह किसी भी कार्य को करने से पूर्व उसकी पूजा-अर्चना करता है। मराठी समाज अंधविश्वासी और ज्योतिष चमत्कार और भविष्यवाणियों में भी विश्वास करता है। जादू-टोना और अलौकिक बातों में जनता का पूर्ण विश्वास भी है। ब्राह्मण समाज में जो शिक्षक होता था उसे उपाध्याय या गुरु कहा जाता है। उपाध्याय वंशागत शिक्षक होते हैं और गुरु किसी व्यक्ति का। इस समाज में यह भी एक महत्त्वपूर्ण बात है कि यह अपना गुरु किसी न किसी नामी व्यक्ति को मानते हैं। ईश्वर और व्यक्ति के बीच के मध्यस्थ का काम गुरु करता है जिसे या महापुरुष भी कहते हैं, कभी-कभी यह मुसलमान भी होते हैं।

"मराठी में साधारण लिखना, पढ़ना और हिसाब के अतिरिक्त शिक्षा के ब्राह्मणों तक ही सीमित है जो संस्कृत का अध्ययन करते हैं जिसमें उनके धार्मिक-ग्रंथ लिखे हुए हैं। चार वेद, छह शास्त्र और अट्ठारह पुराण मुख्य धार्मिक ग्रंथ हैं जिन पर असंख्य वृत्तियाँ और टिकाएँ है । केवल थोड़े से ही मराठा ब्राह्मण संस्कृत जानते है। वर्तमान समय में उनकी हिंदू शास्त्रों तक में भी अच्छी गति नहीं है।"[8]

4.2 साहित्य का समाजशास्त्र और मराठी दलित आत्मकथाएँ:

साहित्य व्यक्ति की अनुभूतियों की अभिव्यक्ति होती है जिसमें व्यक्ति अपने अनुभव को कला सौंदर्य के माध्यम से अभिव्यक्त करता है। जिससे व्यक्ति, समाज एवं समुदाय प्रभावित होता है इसलिए साहित्य का समाज से गहरा संबंध होता है। यह दोनों एक दूसरे को प्रभावित करती हैं, कभी रचना, समाज को प्रभावित करती है तो कभी समाज, रचनाओं को प्रभावित करता है। इसलिए साहित्य का समाज के सभी संस्थाओं से बहुत ही गहरा लगाव होता है। "धर्म, कला और साहित्य समाज की सांस्कृतिक एवं संगठनात्मक उपलब्धियाँ मानी गई हैं। सांस्कृतिक एवं संगठनात्मक उपलब्धियाँ

जीवन को प्रदत्त सामाजिक मान्यताओं के अनुरूप सजाने, समृद्ध करने एवं व्यवस्था प्रदान करने की मूल माध्यम होती हैं। मनुष्य केवल जीना ही नहीं चाहता वरन अच्छी तरह से भी जीना चाहता है, भरपूर जीना चाहता है, और अपने जीवन के लिए दूसरों को भी जीवित देखना चाहता है। मनुष्य की इसी महत्वाकांक्षा का आकार रूप विभिन्न सामाजिक संस्थाएँ जैसे परिवार, धर्म, कला, साहित्य राज्य आदि हैं।"[9] मनुष्य अपने जीवन को एक बेहतर ढंग से जीना चाहता है जिसके फलस्वरूप परिवार, धर्म, कला, साहित्य, राज्य आदि की स्थापना करता है। जिससे मनुष्य का जीवन बेहतर हो सके साहित्य के माध्यम से मनुष्य अपनी अभिव्यक्ति को व्यक्त करता है। वह अपनी कृति इन में संस्थाओं के विषय में भी कहता है। इन अनुभूतियों के स्वरूप में देखें तो यह पड़ताल करनी पड़ेगी की समाज की सामाजिक संस्थाएँ उस व्यक्ति को किस प्रकार प्रभावित करती हैं। वह व्यक्ति साहित्य की रचना प्रक्रिया में स्वत: अनुभूतियों के आधार पर रचना कर रहा है तो वह किस प्रकार से प्रभावित होकर यह लिख रहा है। "साहित्य भाव की कृति है। कल्पना भाव है और कृति वस्तु। कल्पना का वस्तुगत का प्राकट्य कृति है। कृति का भाव का कथ्य या प्रस्तुति है। कृतिकार अपनी चेतना में उठे तनाव, आंदोलन या बेचैनी को प्रकट करने के लिए सभी संभव माध्यम को अपनाता है। माध्यमों को भिन्नता के कारण वस्तु अथवा कृति का रूप (फार्म) भी भिन्न-भिन्न हो जाता है जिसके कारण राजनीतिक युद्धनीति, वैज्ञानिक प्रयोग, धर्म, दर्शन, कला, साहित्य आदि का प्रकटीकरण होता है। इन सब का मूल वह तनाव, आंदोलन या बेचैनी होता है जो किसी प्रबुद्ध चेतना द्वारा प्रकट होने अभिव्यक्त होने के लिए खुद भी बेचैन हो जाता है। यह प्राकट्य कोई राजनीतिक कोई विज्ञान, धर्म, दर्शन या कोई कला, साहित्य आदि के रूप में कर पाता है इस प्राकट्य अपने साथ एक संगठन का निर्माण करता चलता है संगठन भावों का हो अथवा वस्तु का या घटक का लेकिन वह परंपरा के रूप में राजनीतिक धर्म, दर्शन, कला आदि से सम्बद्ध रहता है। इसलिए प्रत्येक कृति एक परम्परा होती है- अपने में और अपने सामाजिक परिवेश की। संगठन परंपरा को दृढ़ता प्रदान करता है और परंपरा संस्था अथवा कार्यप्रणाली का निर्माण करती है। राजनीति, धर्म, दर्शन, कला, साहित्य आदि ऐसी ही

संस्था अथवा कार्य प्रणाली है।"[10] साहित्य के समाजशास्त्र को समझने के लिए साहित्य के स्वरूप को समझना होगा। साहित्य का समाजशास्त्र अनुभववाद, रूपवाद और मनोवैज्ञानिकवाद से अलग है। साहित्य को समझने के लिए आधुनिक युग के आलोचकों ने एक नई दृष्टि प्रदान की है जिसे साहित्य का समाजशास्त्र कहते हैं। जिसमें रचना, रचनाकार और पाठक इन तीनों के विषय में एक विस्तृत विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं। साहित्य में समाज की खोज एवं समाज में साहित्य की सत्ता और साहित्यकार की स्थिति की विवेचना करना तथा साहित्य और पाठक के सम्बन्ध का विश्लेषण करना। "साहित्य की समाजशास्त्रीय आलोचना का विकास स्वयं साहित्य में होने वाले नवीन परिवर्तनों से प्रारंभ हुआ। साहित्य के क्षेत्र में अठारहवीं शताब्दी में एक नया आंदोलन तब आरंभ हुआ जब विज्ञान के व्यापक विकास के साथ वस्तुन्मुखी अनुसंधान की प्रक्रिया आरंभ हुई। वैज्ञानिक विकास के पूर्व साहित्यिक आलोचना में नैतिक और धार्मिक आदर्शों का प्राधान्य और उन्हीं के अनुशासन में साहित्य की श्रृष्टि होती थी। इस आदर्शवादी दृष्टि के पश्चिम के अंतिम व्याख्या ही गेल और फिलटे माने गए हैं जिन्होंने साहित्य के सौंदर्य को आत्मतत्व से समन्वित माना है। उनके मतानुसार जीवन के उदात्त पक्षों का निरूपण करना साहित्य का कार्य है परंतु ऐतिहासिक विकास में यह आदर्श जीवन निरपेक्ष तत्वों से मुक्ति की ओर अग्रसर हुआ और सामाजिक परिवर्तन दिन-प्रतिदिन वैज्ञानिक अविष्कारों परंपराओं, और अंधविश्वासों आदि की निस्सारता सिद्ध करने के कारण तेजी से बंधन मुक्त हो रहा था। राजनीतिक और सामाजिक जीवन की व्याख्याएँ बदल रही थी, नए सिद्धांत की स्थापना हो रही थी। समाज में चारों ओर बंधन से मुक्त होने की प्रवृत्ति बदलती जा रही थी। इस चतुर्दिक सामाजिक स्वतंत्रता पर तेजी से प्रभाव पड़ा और नितांत आदर्शवादी विचारों को त्यागकर स्वच्छंद विचारों के संप्रेषण की प्रवृत्ति साहित्य में बढने लगी। अट्ठारहवी शताब्दी के अंतिम चरण में रीति और आदर्श के विरोध में स्वच्छतावाद रोमैटिज्म नाम का साहित्य आंदोलन किसी परिवर्तन का सूचक था।"[11]

साहित्य पर जो भी अभी तक या विषय उठाता है वह समाज से ही किसी न किसी रूप से जुड़ा हुआ है इसलिए साहित्य और समाज के संबंधों को जानना और समझना बहुत ही आवश्यक है। साहित्य में समाज का स्वरूप में दिखाई देता है साहित्य के माध्यम से समाज में साहित्य की स्थिति एवं साहित्यकार की परिस्थितियों की विवेचना और साहित्य एवं पाठक के संबंधों का विश्लेषण किया जाता है। इस प्रकार साहित्य के समाजशास्त्र का मूल उद्देश्य समाज, पाठक, लेखक एवं उस समय की परिस्थितियाँ ही इनकी मूल विवेचन विश्लेषण में आते हैं। साहित्य समाजशास्त्र को समझने के लिए पाश्चात्य के साहित्य समाजशास्त्रियों की विवेचना समझना आवश्यक है। इपोलित तेन ने साहित्य के समाजशास्त्र पर चिंतन व्यक्त किया। फ्रांसीसी विचारक तेन (1828-93) साहित्य के समाजशास्त्र के प्रवर्तक हैं। तेन से पहले मादाम स्टेल ने अपनी पुस्तक 'सामाजिक संस्थाओं से साहित्य के संबंध पर विचार' (1800) से मानी जाती है। इस पुस्तक में साहित्य के भौतिक आधार, सामाजिक स्थिति और सामाजिक संस्थाओं से उसकी क्रिया-प्रतिक्रिया पर व्यवस्थित ढंग से विचार हुआ है। इसीलिए कुछ साहित्य के समाजशास्त्री मादाम स्टेल को साहित्य समाजशास्त्र का प्रवर्तन श्रेय देते हैं। तेन ने बादाम स्टेल के विचारों को आगे बढाया और तेन ने साहित्य के समाजशास्त्र पर अपने सिद्धांत व्यक्त किया "तेन को साहित्य के भौतिक आधार और सामाजिक स्वरूप के बारे में कोई संदेह नहीं था। उन्होंने अंग्रेजी साहित्य के इतिहास की भूमिका में लिखा है कि कोई साहित्यिक कृति ना तो एक व्यक्ति की कल्पना की क्रीडा है, ना किसी उत्तेजित मन की भटकती हुई अकेली तरंग। वह समकालीन रीति-रिवाजों का पुनर्लेखन है और एक विशेष प्रकार के मानस की अभिव्यक्ति। हम महान रचनाओं से यह जान सकते हैं कि किसी समय और समाज में मनुष्य कैसे सोचता और अनुभव करता है उसके सामने समस्या थी समाज से साहित्य के संबंध की वस्तुपरक व्याख्या करने की। इस समस्या के समाधान की प्रक्रिया में उनका साहित्य का समाचार से विकसित हुआ। उनके साहित्य के समाजशास्त्र के चार प्रमुख पक्ष हैं- साहित्य के भौतिक सामाजिक मूलाधार की खोज, लेखक के महत्त्व का विश्लेषण, साहित्य में समाज के प्रतिबिंबन की व्याख्या, और साहित्य का पाठक के संबंध।"[12] तेन ने साहित्य के

समाजशास्त्र के स्वरूप की बात की। मनुष्य किसी भी रचना को करने के लिए कल्पना करता है वह समाज से ही विकसित होती है। वह बिना किसी घटना या इतिहास बोध के वह नहीं प्राप्त हो सकती है। साहित्य परंपराओं एवं रीति-रिवाजों का एक तरीके से पुनर्लेखन होता है और दलित आत्मकथाओं में यह तथ्य उभरकर सामने आता है। उस समाज का मनुष्य कैसे सोचता एवं कैसे अनुभव करता है। इन्हें सारी बातों का विश्लेषण ही साहित्य के समाजशास्त्र का विषय। इसलिए कला एवं साहित्य की कृतियों को सामाजिक उत्पादन का क्षेत्र मानते हैं। उन्होंने आगे कहा है "वे कला और साहित्य की कृतियों को सामाजिक उत्पादन मानते हैं इसलिए सबसे पहले उत्पादक पर ध्यान देते हैं और बाद में उत्पादन की परिस्थितियों पर। उनके अनुसार कला मनुष्य की मानसिकता की उपज है। लेकिन उसके वस्तुवादी दृष्टिकोण के सामने यह सवाल आता है कि कला जिस मानसिकता से पैदा होती है, वह मानसिकता कैसे बनती है? इसी सवाल के उत्तर में प्रजाति, परिवेश और युग का उनका प्रसिद्ध सिद्धांत सामने आता है। तेन की समाजशास्त्रीय पद्धति तथ्य (कृति) से चेतना (लेखक) की ओर बढ़ती है और चेतना से उनके निर्माण की परिस्थितियों की ओर।"[13] तेन प्रजाति, परिवेश और युग को साहित्य एवं कला की उत्पत्ति का माध्यम मानते हैं। प्रजाति के अंतर्गत वह व्यक्ति संरचना तथा वंशानुगत विशेषताओं तथा मानसिक क्षमता एवं सामाजिक संरचनाओं की चर्चा करते हैं। और दूसरी महत्त्वपूर्ण चर्चा परिवेश या वातावरण की करते है। परिवेश से उनका आशय प्राकृतिक परिवेश से है लेकिन वह सामाजिक परिवेश को भी इसके अंतर्गत शामिल करते हैं क्योंकि मनुष्य अकेला नहीं होता है उसके चारों प्रकृति होती और वह प्रकृति समाज के रूप में साथ-साथ होती है। जिससे मनुष्य भौतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों में घट रही प्रत्येक घटनाओं से प्रभावित होता है। इसके पश्चात् युग पर बात करते है। तेन के अनुसार एक युग में एक प्रधान विचार होता हैं। उनकी एक बौद्धिक संरचना होती है जिससे पूरा समाज उस चिंतन से प्रभावित होता है। हर युग में मनुष्य की एक परिकल्पना एवं अवधारणा होती है। मनुष्य की यही अवधारणा आदर्श का रूप धारण करती है जिससे वह प्रभावित होता है। जो उसके विचार व्यवहार और चिंतन में दिखाई देता है। इस आधार पर कहा

जा सकता है कि वे लेखक की संवेदनशील विचार की शक्ति और सामाजिक अंतर्दृष्टि को महत्व देते हैं। तेन के बाद अन्य आलोचकों ने भी अपने विचार रखे। लेकिन प्लेखानोव ने कहा है कि उनका कोई भी आलोचक इस स्थापना का खंडन नहीं कर सकता है कि कला मनुष्य की मानसिकता की उपज है और मनुष्य की मानसिकता उसकी परिस्थितियों से प्रभावित होती है। इस बात का खंडन किसी भी आलोचक ने नहीं किया। साहित्य के समाजशास्त्र की आलोचनात्मक पद्धति में लावेंथल ने भी मुख्य भूमिका निभाई है। जिन्होंने समाजशास्त्रीय चिंतन और साहित्य पर बात की है। लावेंथल समकालीन लेखकों पर बहुत कम लिखा है। उन्होंने 1980 में प्रकाशित एक साक्षात्कार में कहा था कि "मैं पुराने ढंग का साहित्य-वैज्ञानिक हूं। आज भी आधुनिक साहित्य के बारे में समाजशास्त्रीय बयान देने की हिम्मत नहीं कर पाता। इसके दो कारण हैं। एक तो आधुनिक साहित्य अब भी इतिहास की कसौटी पर खरा नहीं उतरा है। उसके बारे में अभी यह कहना मुश्किल है कि उसका कौन-सा हिस्सा भविष्य में समाज के बारे में ज्ञान की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण साबित होगा। दूसरा कारण समाजशास्त्रीय है। मैं साहित्य के समाजशास्त्रीय विवेचन को उसके सौंदर्यबोधीय अनुभव का सहायक मानता हूं। जब आधुनिक युग को जानने के दूसरे तरीके और स्रोत मौजूद हैं, तब समकालीन साहित्य को स्रोत के रूप में क्यों स्वीकार किया जाए? मैं अतीत की महान रचनाओं की ओर इसलिए जाता हूं कि उस काल को जानने का साहित्य को सर्वोत्तम स्रोत मानता हूं।"[14] लावेंथल ने साहित्य को अतीत की घटनाओं को स्रोत के रूप में देखा और उन्हीं आधारों पर उनका मूल्यांकन करने की बात की। वह समकालीन रचनाओं कम बात करते हैं क्योंकि उनका मानना है कि भविष्य में समकालीन रचनाओं विज्ञान की दृष्टि कितनी महत्त्वपूर्ण होगी यह कह पाना अभी निश्चित नहीं है। साहित्य की सामाजिकता का विश्लेषण ही उनका लक्ष्य है। "उनकी दृष्टि के मूल में साहित्य की ऐसी धारणा है जो उनके सामाजिक स्वरूप की ओर संकेत करते हैं। वे मानते है कि साहित्य वैयक्तिक अनुभवों का ऐतिहासिक भंडार है। उसमें प्रेम और प्रकृति की नितांत निजी अनुभूतियां होती हैं, लेकिन वे भी सामाजिक संदर्भ से प्रभावित होते हैं। यही कलात्मक कल्पना की विशिष्टता है। साहित्य से हमें यह मालूम होता है कि किसी युग में जीवन का

अनुभव कैसा था। वे साहित्य में यथार्थ के चित्रण की तुलना में यथार्थ की अनुभूति और उसके प्रति दृष्टि को अधिक महत्व देते हैं, इसलिए वे यथार्थ चित्रण से अधिक लेखक या रचना की सामाजिक चेतना का विश्लेषण करते हैं।"[15] इनके अनुसार साहित्य व्यक्ति के साथ-साथ सामाजिक एवं ऐतिहासिक भी होते हैं। लेखक अपने समय के ऐतिहासिक स्थितियों का समर्थन एवं विरोध करता है। वह तटस्थ रहकर ही रचना नहीं करता है। लावेंथल ने वाल्टर बेंजमिन के मत का विरोध किया है कि इतिहास में हमेशा विजेताओं की आवाज मुखरित होती है। उनकी राय में बेंजमिन का यह कथन साहित्य के बारे में सही नहीं है, क्योंकि सच्ची कला में प्राय पराजितो की आवाज और उनकी विषय की आकांक्षा व्यक्त होती है, उनके अनुसार अच्छा साहित्य वही है जिसमें सामाजिक, ऐतिहासिक, अनुभवों की गहरी अभिव्यक्ति होती है मानवीय दशाओं के बारे में अंतर्दृष्टि देने की क्षमता होती है।

लूसिएं गोल्डमान ने भी संरचनाओं के माध्यम से साहित्य के समाजशास्त्रीय चिंतन व्यक्त किया। साहित्य के समाजशास्त्री की दृष्टि से उनकी दो महत्त्वपूर्ण कृति प्रकाशित हुई। 'आधुनिक युग में सांस्कृतिक सृजन' (1916) और 'साहित्य के समाजशास्त्र की पद्धति' (1980) गोल्डमान केवल साहित्य के समाजशास्त्री ही नहीं है वे दर्शन, समाजशास्त्र और मनोविज्ञान के विषयों में भी अच्छी पकड़ रखते हैं। साहित्य कृति को लेखक की रचना होने के साथ-साथ समाज के अनुभव एवं विचारों को अभिव्यक्त करती है। वह विचार एवं अनुभव दूसरे व्यक्तियों के व्यवहार एवं चिंतन से प्रभावित होता है। जिससे अभिव्यक्ति का एक माध्यम बनता है और वह देश विश्वदृष्टि की सहभागी होता है। "गोल्डमान के अनुसार विश्वदृष्टि सामाजिक वर्ग के जीवन में निहित होती है, लेकिन वह दर्शन, कला और साहित्य में व्यक्त होती है। इसलिए विश्वदृष्टि की खोज का आरंभ कृति के अध्ययन से होता है न कि वर्ग के अध्ययन से। लेकिन कृति की विश्वदृष्टि की प्रमाणिकता की पहचान के लिए वर्ग के जीवन में निहित विश्वदृष्टि की खोज आवश्यक है। गोल्डमान इस उद्देश्य को सामाजिक वर्ग की ऐतिहासिक स्थितियों से संबंध मानते हैं, लेकिन वे उसे विचारधारा या वर्गचेतना नहीं कहते। विचारधारा को छदम में चेतना मानते हैं इसलिए उससे विश्वदृष्टि को अलग रखते हैं।"[16] गोल्डमान समाज और साहित्य के

बीच संबंध की खोज अंतर्वस्तु के स्तर पर नहीं करते हैं। वह साहित्यिक कृति का संरचनात्मक विश्लेषण करते हैं। वह किसी भी कृत्य की समग्रता के विश्लेषण में विश्वास करते हैं। कृति के किसी एक पक्ष के बोध से उसकी समग्रता का बोध अधिक महत्त्वपूर्ण है।

"गोल्डमैन के सामने साहित्य के समाजशास्त्रीय विश्लेषण की दो पद्धतियां थीं- अनुभववादी और आलोचनात्मक समाजशास्त्रीय। अनुभववादी की अंतर्वस्तु का विवेचन करते थे और आलोचनात्मक समाजशास्त्री कृति के भीतरी संसार की अंतर्यामी मीमांसा। गोल्डमान ने समग्रता की धारणा के सहारे दोनों का विरोध किया और कृति के विभिन्न पक्षों के वर्णन, उनकी आंतरिकता के बोध और इतिहास-प्रक्रिया से उसके संबंध की व्याख्या को महत्व दिया। गोल्डमान ने बार-बार कृति के बोध और व्याख्या में अंतर किया। उन्होंने लिखा है कि बोध की प्रक्रिया का संबंध कृति की आंतरिक संगति से है। उसमें कृति के केवल पाठ के भीतर की सर्वव्यापी सार्थक संरचनाओं की पहचान होती है। व्याख्या के अंतर्गत कृति की विश्वदृष्टि की खोज और इतिहास प्रक्रिया से उसके संबंध का विवेचन होता है।"[17] गोल्डमान साहित्य की समग्रता पर विशेष जोर दिया। अनुभव अधिकृत की अंतर्वस्तु का विवेचन करते हैं जबकि आलोचना उस कृति की भीतरी मीमांसा करता हैं, उन्होंने कृति के विभिन्न पक्षों के वर्णन और उसकी आंतरिक बोध दोनों की प्रक्रियाओं और उनके संबंधों की व्याख्या को महत्त्व दिया है। वह कृति की व्याख्या पर नहीं उसके बोध पर जो देते हैं।

रेमंड विलियम्स के साहित्य के समाजशास्त्र के विषय में बताया कि संस्कृति और समाज के बीच संबंधों की समस्या तभी सैद्धांतिक समस्या के रूप में सामने आएगी जब संस्कृति और समाज में ऐतिहासिक दृश्य से महत्त्वपूर्ण कुछ परिवर्तन घटित होते हैं। समाज जैसे-जैसे परिवर्तित होता है संस्कृति में भी परिवर्तन दिखाई देता है। इन परिवर्तनों की बात करने वाले यह पहले महत्त्वपूर्ण आलोचक है। इन्होंने 'संस्कृति और समाज' नामक पुस्तक की भूमिका में लिखा है कि "यहां संस्कृति के एक ऐसे सिद्धांत के विकास का प्रयास है जिसमें जीवन की समग्र पद्धति के विभिन्न तत्वों के बीच संबंध का बोध हो सके। यहां ध्यान देने की बात यह है कि रेमंड विलियम्स संस्कृति को जीवन की

एक समग्र पद्धति के रूप में देखते हैं। उस पुस्तक में उद्योग, लोकतंत्र, वर्ग, कला और संस्कृति जैसे कुछ बीज-शब्दों के अर्थ की विकास प्रक्रिया का इस तरह विवेचन किया गया है कि उससे इन शब्दों के अर्थ के विकास के नक्शे के साथ-साथ समाज के जीवन और चिंतन के विकास का नक्शा भी सामने आ जाता है। इस प्रक्रिया में शब्दों के अर्थ की संरचनाएं सामाजिक जीवन और चिंतन की संरचनाओं द्योतक बन जाती हैं।"[18] विलियम्स ने संस्कृति के विश्लेषण के लिए कहा कि किसी कृति में संस्था का विवेचन करते समय दूसरी कृतियों और संस्थाओं से उसके संबंध का विवेचन अधिक महत्त्वपूर्ण है इसीलिए उनका प्रमुख केंद्र ढांचा और ढांचे की खोज है। उन्होंने संस्कृति के तीन रूपों एवं स्तरों की चर्चा की है। "रेमंड विलियम्स संस्कृति के तीन रूपों और स्तरों की चर्चा की है। सबसे पहले संस्कृति एक जीवंत अनुभव के रूप में होती है। उसका दूसरा रूप दस्तावेज ही होता है जो कलाकृतियों से लेकर अनेक दूसरी वस्तुओं में मौजूद रहता है। संस्कृति का एक तीसरा रूप इन दोनों के संबंध से बनता है जिसे चुनी हुई परंपरा की संस्कृति कहा जा सकता है।"[19] रेमंड विलियम्स के संस्कृति और समाज की खोज के जीवन तुलनात्मक संबंध की व्याख्या में केंद्रीय धारणा अनुभूत की संरचना। अनुभूत की संरचना की धारणा का उपयोग उन्होंने संस्कृति और समाज नामक पुस्तक में किया है लेकिन उसकी व्यवस्थित और विस्तृत व्याख्या लंबी क्रांति पुस्तक में की है। "हम एक काल के अध्ययन में उस काल के भौतिक जीवन, सामाजिक संगठन और एक सीमा तक प्रधान विचारों को भी कमोवेश सही ढंग से पुननिर्मित कर सकते हैं। यहां इस बात पर बहस करना जरूरी नहीं है कि इसमें से कोई एक तत्व सारी स्थिति को निर्धारित करता है या नहीं। नाटक जैसे महत्त्वपूर्ण साहित रूप में इन सभी तत्वों से कुछ-न-कुछ लेकर अपना रूप-रंग निखारने की क्षमता है। इन तत्वों से निर्मित समग्रता के किसी एक हिस्से से किसी कलाकृति को जोड़कर देखना उपयोगी हो सकता है। लेकिन अनुभव यही बताता है कि विश्लेषण के दौरान इस समग्रता के सभी तत्वों से कला का संबंध खोज लेने पर भी उसमें ऐसा कुछ बच जाता है जिसका बाहर की किसी चीज से संबंध जोड़ पाना मुश्किल होता है। इसी को मैं एक कला की अनुभूत की संरचना कहता हूं जिसे किसी कलाकृति को समग्रता में अनुभव

करके ही जाना जा सकता है।"[20] संरचना जहाँ सुनिश्चित रूप का बोधक होता है वही अनुभूति कला के अनुभव पक्ष की ओर संकेत करती है। एक तरह से अनुभूति इस संरचना को एक कला की संस्कृति भी कहा जा सकता है क्योंकि कला में ही अनुभव की संरचना पाई जाती है इसलिए किसी काल के समाज को जानने में कला बहुत ही महत्त्वपूर्ण साबित होती है। दूसरे लोग साहित्य विशेषण में समाज से वैयक्तिक को अलग करते हैं फिर रचना की व्याख्या में व्यक्तित्व की उपेक्षा करते हैं। रेमंड अनुभूत की संरचना में रचना के व्यक्तिगत जीवन और अनुभव पक्षों की ओर संकेत करते हैं। किसी रचना में अनुभव और अनुभूति के स्तर पर भी व्यक्ति अधिक प्रकट होता है। विचार के स्तर पर नहीं इसलिए भी विचार से अधिक अनुभव की बात करते हैं।

साहित्य की रचना करना यह अनुभवजन्य एवं कल्पना प्रधान दोनों होता है। किसी भी घटना का विवरण अगर करते हैं तो वह यथार्थवादी रूप उसमें दिखाई देता है और वह समाज केंद्रित होता है। साहित्य में कुछ रचनाएँ कल्पना प्रधान होती हैं जो कि व्यक्ति के अनुभव के आधार पर कल्पनाएँ विकसित होती हैं। आलोचकों ने कहा कि किसी भी कृति की कल्पना में समाज में घटित हो रहे कार्यों का अंश उस कृति में दिखाई देता है। इसलिए रचना, रचनाकार और समाज इन तीनों को साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन के लिए मुख्य माना गया है।

साहित्य की महत्त्वपूर्ण विधा आत्मकथा में अनुभववाद एवं यथार्थवाद के तत्त्व मुख्य है, जिसमें व्यक्ति अपने संपूर्ण जीवन की घटनाओं को बिना किसी अलंकार एवं कल्पना के बिना ही रचनाबद्ध करता है। यह रचना उसके अनुभवजन्य से विकसित होती है और वर्णन यथार्थवादी होता है। आत्मकथा में व्यक्ति, समाज और उस युग की स्थिति को दर्शाया जाता है। "आत्मकथाएं व्यक्तिगत जीवन ही नहीं, सांस्कृतिक यथार्थ का उद्घाटन करती हैं। इनमें समकालीन जीवन को प्रभावित और नियंत्रित करने वाली संस्थाओं जैसे परिवार, जाति, धर्म, राजनीति, कानून, शिक्षा इत्यादि की व्याख्या एवं मूल्यांकन उभरकर सामने आता है जिससे समाज में नई राय बनती है और चेतना का विस्तार होता है। जीवन के दग्ध अनुभवों को आत्मकथा में प्रस्तुत करने के लिए हिम्मत

और संतुलन की अधिक आवश्यकता रहती है। समाज और जीवन के कटु, कटुत्तम व्यवहारों को साहित्यिक सीमाओं में अभिव्यक्त करना चुनौती भरा कार्य है। ऐसी परिस्थितियों में रहते हुए, संघर्ष करते हुए व्यक्ति और समाज आगे बढ़ते हैं।"[21] आत्मकथाएँ व्यक्ति के सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक जीवन के साथ-साथ उनके सामाजिक संस्थाओं से संबंधों को भी बताती है। जिससे साहित्य के समाजशास्त्रीय मानव के आधार पर उनके विवेचन एवं मूल्यांकन में सुलभता होती है। हिंदी साहित्य में कई आत्मकथाओं की रचना हुई जिसमें सामाजिक जीवन या परिवेश को महत्त्व नहीं दिया गया वह रचनाकार की घटनाओं तक ही सीमित रही लेकिन दलित आत्मकथाओं में व्यक्ति अपने साथ-साथ पूरी सामाजिक संरचना या परिवेश की बात करता है और भारतीय सामाजिक व्यवस्था को उजागर करता है। "आत्मकथाएँ सामान्यत: व्यक्ति केंद्रित होती हैं, किंतु दलित आत्मकथाएँ व्यक्ति के साथ जाति पर भी विशेष रूप से केंद्रित हैं। यही कारण है कि इन दलित आत्मकथाओं की विषयवस्तु की परिधि में मात्र दलित लेखक का ही जीवन नहीं आता तो संपूर्ण दलित समुदाय आता है। ये आत्मकथाएँ व्यक्तिवाचक के साथ-साथ जातिवाचक बन जाती है। इनके विषय विशिष्ट दलित समुदाय से संबंधित हैं। कहीं ये भटकने वाले बंजारा समूह की कथा है तो कहीं चमार, जाटव या फिर वाल्मीकि जाति की। समाज द्वारा उपेक्षित एवं प्रताड़ित इन अछूत जातियों को मिला दर्द एवं अपमान सब में एक जैसा है।"[22] दलित आत्मकथा में भारतीय समाज की सामाजिक संरचना के जो अंतिम पायदान पर व्यक्ति है जिसका अभी तक समाज में उत्पीडन एवं शोषण हो रहा था और उसको सामाजिक, राजनैतिक, अधिकारों से वंचित किया गया था। वह अपने ऊपर किये गए शोषण और अत्याचारों की बात को लिपिबद्ध कर रहा है। जिससे सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन किया जा सके और दलित समाज को सामाजिक प्रतिष्ठा और मूलभूत सुविधावों को भोग सके। "करोड़ों लोगों को ही हिंदुत्वी विरासत के ऐसे व्यवहारों पर कदम-कदम पर सामना करना पड़ा है जो व्यक्ति को व्यक्ति के रूप में स्वीकृति देने की अपेक्षा उनकी जातीयता और धर्म की नाम-पहचान के आधार पर सांप्रदायिक जहर फैलाते रहते हैं। कामकाजी समाज में जातीय काम-धंधे बेगारी के द्योतक बने हुए हैं

और इनमें अस्वच्छता और कुपोषण की भरमार है। अंधविश्वास और पाखंड व्यवहारों ने दिन दौगुनी, रात चौगुनी गति से अज्ञानता का विस्तार किया है। धर्म और समाज द्वारा पोषित संरचना से पित्तसत्ता का रोग हटाने और मिटाने की जरूरत है ताकि करोड़ों स्त्रियों को शिक्षा, स्वाभिमान और न्यायपरक जीवन मिल सके।"[23] दलित आत्मकथा सदियों से चली आ रही व्यवस्था और व्यक्तियों को व्यक्ति न समझ कर जाति एवं धर्म के वर्गीय विभाजन से उनकी पहचान करना और मजदूरी एवं बेगारी के लिए मजबूर करना अंधविश्वास एवं पाखंड का दलित समाज में घर कर लेना तथा समाज द्वारा पोषित पित्रसत्ता एवं जातिसत्ता के स्वरूप का विस्तृत उल्लेख करना आत्मकथाओं की प्राथमिकता रही है। आत्मकथाओं ने अभी तक मुख्यधारा से दूर समाज को केंद्रीय पटल पर प्रस्तुत किया है। "जहाँ तक आत्मकथा लिखने का सवाल है, उन कथाकारों की सामाजिक और मनोवैज्ञानिक परिस्थितियों की पड़ताल करना जरूरी है हिंदी क्षेत्र में हम लाख कहे कि यहाँ डॉ.. अंबेडकर का आंदोलन फला-फूला है, पर हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि हिंदी भाषी दलितों के मन-मस्तिष्क पर गाँधी भी उसी तरह से छाए रहे हैं। सतही राजनीतिक नारों की बात छोड़ दीजिए। हिंदी के दलित परिवार अभी भी सनातनी मूल्यों को कहाँ छोड़ पाए हैं! कितना भी दलित मराठी साहित्य हिंदी में छपकर क्यों ना आ गया हो, पर वस्तुस्थिति में परिवर्तन अभी भी बहुत कम हुआ है। जिन मराठी दलित कथाकारों ने हिंदुओं के देवी-देवताओं को कभी का अपने घरों से निकाल कर बाहर फेंक दिया है, उन्हीं को उठाकर बाहर निकालने में अभी तक भी हिंदी के दलित कथाकार हिचकिचा रहे हैं। वे अपने ही भीतर के सामाजिक तथा धार्मिक संघर्षों से जूझ रहे हैं। क्यों?"[24] साहित्य का समाजशास्त्र रचना, रचनाकार और उसके समय को देखने की बात करता है। जिसमें वह रचनाकार की मन:स्थिति और रचना के विषय में संपूर्ण जानकारी प्राप्त करता है और उसका मूल्यांकन उस समय परिस्थिति के आधार पर करता है जिन परिस्थितियों में यह रचनाएं रची गई। दलित आत्मकथाएँ साहित्य के समाजशास्त्रीय अवधारणाओं पर खरी उतरती हैं और रचना, रचनाकार और उस समय घटित हो रही घटनाओं का संपूर्ण विवरण देती हैं। यह अनुभवजन्य और यथार्थवाद पर आधारित होती हैं। "आत्मकथा मराठी

समाज में व्याप्त विद्रूपताओं का वर्णन करते हुए दलित समाज की सामाजिक- सांस्कृतिक स्थितियों का सहज अंकन करती है तथा लेखक के अनुभवपरक गहन पीड़ादायक प्रसंगों का दस्तावेज है। दया पवार ने दलितों के सामूहिक मानसिकता का प्रतिनिधित्व करते हुए उसमें व्याप्त जातीय हीनता, अशिक्षा, बेरोजगारी, परंपरागत व्यवसायों के त्याग, संस्कृतिक बोध तथा पारिवारिक संबंधों के तनाव को विस्तार दिया है। यही नहीं, आत्मकथा में दलित समाज की उन बुरी आदतों को भी उद्घाटित किया गया है, जिनके कारण परिवार चौपट हुए हैं। लेखक के मन में बचपन से कुलबुलाती जातिवादी घटनाओं के प्रकरण, उच्च जातियों के व्यवहारों के पीछे छिपी घृणा, कालिमा और अमानवीयता जहां कथानक को बल प्रदान करते हैं, वहीं तथाकथित शिष्ट समाज के बेदाग प्रतीत होने वाले चेहरे से पर्दा उठाते हैं।"[25] मराठी दलित आत्मकथाएँ समाज की सामाजिक, सांस्कृतिक स्थितियों को दर्शाती और यह लेखक के अनुभवों के प्रसंगों का दस्तावेज के रूप में हमारे सम्मुख आते हैं। आत्मकथाएँ समाज के सांस्कृतिक ताने-बाने को प्रस्तुत करती हैं। जो अभी तक नेपथ्य में दिखाई दे रहा था। दलित आत्मकथाओं में कल्पना के बिंदु नहीं दिखाई देते है वह अनुभव और यथार्थ पर ही आधारित है इसलिए साहित्य के समाजशास्त्र की पद्धति के आधार पर इसका विश्लेषण किया जाता है। "इन आत्मकथाओं के द्वारा लेखकों ने स्वयं का ही नहीं वरन अनेक पीढ़ियों से उपेक्षित दारिद्र्य एवं दासता से जकड़ी हुई अछूत जाति का चित्रण किया है। अस्पृश्यता के भयानक अनुभवों से गुजरते हुए 'अछूत' होने की सजा भुगती है। यह आत्मकथा नरकीय जीवन से जीने को अभिशप्त, मृत पशुओं के मांस को खाने के लिए विवश, नंगे भूखे, दुत्कार गए बेबस मानव की आत्माओं को दर्शाती हैं।"[26] दलित आत्मकथाएँ भारतीय समाज के एक ऐसे वर्ग को सामने लाती हैं जो सदियों से शोषित पीड़ित और वंचित रहा है अब वह साहित्य के माध्यम से अपनी बात कह रहा है और अपने अधिकारों और कर्तव्यों की बात कर रहा है। दलित आत्मकथाएँ साहित्य के समाजशास्त्र के मूल्यांकन के लिए उपयुक्त विधा हैं। जिसमें वह व्यक्ति, रचना और रचनाकार के साथ-साथ उसकी सामाजिक पारिवारिक सांस्कृतिक परिस्थितियों की जानकारी देता है और वह सदियों से चली आ रही इस सामाजिक

व्यवस्था को तोड़ने और एक बेहतर समाज के निर्माण में अपनी भागीदारी सुनिश्चित करना चाहता है। "दलित आत्मकथन दलित समाज के विविध आयामों को अपने में समेटकर उसके हर एक पहलू पर एक समाजशास्त्रीय दृष्टि से विचार करके सामाजिक अंत:संबंधों की पड़ताल करता हुआ नजर आता है। इसलिए वे केवल व्यक्तिगत अनुभवों की अभिव्यक्ति नहीं हैं, बल्कि दमित, दलित समाज के अनुभवों की अभिव्यक्ति है। दलित समाज के सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक सरोकारों को ये आत्मकथन उजागर करते हैं।"[27]

मराठी दलित आत्मकथाएँ व्यक्ति के साथ-साथ समाज में आ रहे परिवर्तनों और एक समुदाय का दूसरे समुदाय के प्रति व्यवहार एवं व्यक्ति का समाज के प्रति नजरिया लेखक के माध्यम से आत्मकथा में देखने को मिलता है। आत्मकथा लेखन का मुख्य उद्देश्य समाज में आ रही विसंगतियां को उजागर करना है, और कई वर्षों से चली आ रही परंपरा एवं रूढ़ियों को तोड़कर एक समाजवादी व्यवस्था स्थापित करना है। "दलित लेखन और आंदोलन के परिप्रेक्ष्य में किसी आत्मकथाकार को (सहूलियत के लिए) समुदाय विशेष के प्रतिनिधि के रूप में देखा-पढ़ा जाता है। और यह निराधार भी नहीं है। पर अंततः कोई आत्मकथा किसी व्यक्ति की रचना होती है और उस रचना की अच्छाई-बुराई का श्रेय-कुश्रेय लेखक को ही मिलता है। व्यक्ति और समुदाय के इस बात को याद रखना चाहिए। अपनी आत्मकथा में दया पवार महार समुदाय (जिसमें पैदा हुए) से नाभिनालबद्धता की बात करते हैं। अपने समुदाय से संपृक्त की उनकी आकांक्षा और कोशिश पर संदेह नहीं किया जा सकता। पर समय के साथ अपने समुदाय से बढ़ती दूरी को भी स्वीकार करते हैं। अकेलेपन की यह व्यथा 'अछूत' में बार-बार व्यक्त हुई है। यह व्यथा जितनी वास्तविक है उतनी मार्मिक।"[28] मराठी दलित आत्मकथा का शिक्षा एवं संपन्नता प्राप्त कर लेने के बाद अपने सामाजिक समुदाय के साथ संबंध से दूरी की बात करते हैं क्योंकि वह उस समुदाय विशेष का अंग पुनः नहीं बनना चाहते जिसमें अमानवीय एवं शोषण भरा पड़ा हो। उसकी ऐसी इच्छा है कि समुदाय का प्रत्येक व्यक्ति अपने अधिकार एवं महत्त्व को समझें और उस अमानवीय व्यवस्था से दूर हो। दलित समाज के लोग जब उच्च पद प्राप्त कर लेते है

तो अपने पुराने अस्तित्व को छुपाते है और एक नया एवं बनावटी अस्तित्व प्रस्तुत करते है, जिससे वह अपने मूल समाज से तो कट ही जाते है और उच्च वर्ग के लोग भी उसे सहजता से स्वीकार नहीं करते है इसलिए वह अपने आप को अकेला महसूस करते है। "इस बारे में वह वरिष्ठ दलित कथाकार ओमप्रकाश वाल्मीकि का भी लगभग ऐसा ही मानना है। उनके अनुसार अपने अनुभवों को लिखने के लिए लेखक को अनेक खतरों के बीच से गुजरना पड़ता है। उन्हें अपने 'आत्मकथ्य' को विस्तार देने के लिए कई साल लग गए। उन्होंने बताया कि लंबी जद्दोजहद के बाद जब सिलसिलेवार लिखना शुरू किया तो उन तमाम कष्टों, यातनाओं प्रताड़नाओं को एक बार फिर जीना पड़ा। उस दौरान गहरी मानसिक यंत्रणाएँ उन्होंने भोगी। स्वयं को परत-दर-परत उधेड़ती हुए कई बार लगा- कितना दुखदायी है यह सब। कुछ लोगों को यह अविश्वसनीय और अतिरंजनापूर्ण लगता है। कई मित्र हैरान थे, अभी से आत्मकथा लिख रहे हो। कुछ ने लिखा-आत्मकथा लिखकर आप अपनी प्रतिष्ठा ना खो दें।"[29] दलित आत्मकथा ने अपने समय एवं समाज को व्यक्त किया है। जिसमें उन्होंने अपने संपूर्ण जीवन की घटना को सिलसिलेवार ढंग से वर्णित किया है। साहित्य के समाजशास्त्र की अवधारणाओं को देखें तो दलित आत्मकथाओं में उसके स्वरूप दिखाई देते हैं। जिसमें व्यक्ति, समाज और समाज का व्यक्ति से संबंध एवं कृति के लिखे जाने के कारणों का भी जिक्र रचनाकार अपनी रचना शुरू करने से पूर्व भूमिका में स्पष्ट करते हैं। "सुपरिचित मराठी दलित लेखक उर्मिला पवार की आत्मकथा के एक अंश (बचपन का हिस्सा) पर टिप्पणी करते हुए उमा चक्रवर्ती ने लिखा है कि उर्मिला अपनी माँ के साथ अपने रिश्ते को हृदयस्पर्शी ढंग से इसलिए प्रस्तुत कर सकी क्योंकि उन्होंने अपने को अतीत के प्रेत से मुक्त कर लिया है। 'अतीत के प्रेत' से मुक्त के बीच की बात विचारणीय है। अतीत के प्रेत से ग्रस्त व्यक्ति या तो अतीत को फार्मूले की तरह इस्तेमाल करता हुआ उसमें अपने को, और अपने अनुभव को विलीन कर देता है, एक नए अर्थ है 'पुरातन पंथी' बन जाता है या फिर अतीत को भरसक भुलाने की विफल कोशिश करता रहता है ऐसे व्यक्ति के द्वारा अतीत की प्रेरक पुनर्रचना संभव नहीं होती।"[30] मराठी दलित आत्मकथाएँ लेखक के अतीत का वर्णन है। लेकिन रचनाकारों ने अपने जीवन का

वर्णन करते समय बहुत ही सावधानी बरतनी पड़ती है क्योंकि वह उससे कल्पना का पुट नहीं दे सकता है। उसमें वह अपने भोगे हुए यथार्थ जीवन की घटना को लिखते हैं। अतः उनकी रचना को पुरातनपंथी कहना यथोचित नहीं होगा यह रचनाएँ समाज में घटित हो रही घटनाओं की दस्तावेज है। आज भी अगर महाराष्ट्र या उत्तर भारत या पूरे भारतीय सामाजिक संरचना में देखें तो कहीं न कहीं घटनाएँ घटित होती दिखाई देती हैं अतः यह अतीत के यथार्थ को सम्पूर्ण वर्णन को दर्शाती हैं। "मराठी के ही श्रेष्ठ आत्मकथाकार दया पवार ने बताया है, 'कि मैंने भी भूतकाल को पूरी तरह भूल जाने की कोशिश की। पर क्या इतनी सहजता से भूतकाल पोछा जा सकता है? कुछ दलितों को यह कूड़ा-करकट बाहर उलीचने जैसा लगता है। परंतु आदमी यदि अपना भूतकाल नहीं जानता तो अपना भविष्य भी तय नहीं कर सकता। अतीत की ओर लौटना अतीत का होकर नहीं रह जाना है। वर्तमान को समझने, भविष्य की रूपरेखा बनाने के लिए अतीत अनिवार्य संदर्भ है।"[31]

4.3 मराठी दलित आत्मकथाओं का समाजशास्त्रीय विश्लेषण:

साहित्य के समाजशास्त्र के विश्लेषण के लिए आलोचक कृति में लेखक, परिवेश एवं सामाजिक स्थिति का विश्लेषण करता है, क्योंकि किसी भी रचना को रचने से पूर्व लेखक के मन में समाज से ही उत्पन्न हो रहे प्रश्न विचार के रूप में आते है इसलिए आत्मकथा लेखन में भी लेखक के मन में उत्पन्न हो रहे सामाजिक, धार्मिक स्थितियों को देखकर ही रचना करने का भाव उत्पन्न होता है। अत: आत्मकथा में लेखक अपने समाज, धार्मिक, राजनीतिक स्थितियों का अनुभव और स्मृति यथार्थ के आधार पर चिंतन करता है।

शरणकुमार लिम्बाले अपने विषय में बताते है कि "मेरा बचपन मुझे अभी भी याद है। मेरे गाँव में प्रतिवर्ष सावन के महीने में पोथी-पुराण बाँचे जाते। हर साल मेले के बहाने धार्मिक नाटक किये जाते। मेरे काका यशवंतराव पाटील सवर्ण और फिर गाँव के मुखिया। वह मुझे रामायण-महाभारत की कहानियाँ सुनाते। पढ़ने के लिए धार्मिक ग्रंथ लाकर देते। मेरे नाना महमूद दस्तगीर जमादार और वह

मुसलमान। वे मुझे जादू की, भूत-प्रेत की, राजकुमारों की कहानियाँ सुनाते। मेरी दादी भी मुझे ऐसी कहानियाँ सुनाती। मेरे जो मित्र थे- मारत्या और इल्या- उनकी दुनिया ही अलग थी। 'बड़ा इंद्रजाल' पढ़ते। मोहनी मंत्र की साधना पर लड़कियों को पटाना उनका लक्ष्य था। तो यह हुआ मेरे आस-पास का परिवेश।"[32] दलित रचनाकारों ने अपने समाज की स्थिति एवं अपने परिवेश को प्रस्तुत किया है। जैसे पूरी घटना हमारे सामने घटित हो रही हो और उनकी रचनाओं में अनुभव, यथार्थ के गुण होने के कारण वह एकदम सजीव जान पड़ती हैं। आज भी अगर किसी गाँव, कस्बा या नगर का भ्रमण करें तो ऐसी ही बिम्ब देखने को मिल जायेगें। "आत्मकथा में बीते जीवन के अनुभव व्यस्त होते हैं। ये अनुभव विशुद्ध और अकृत्रिम नहीं होते। यह बीते जीवन-प्रसंगों की यादें होती हैं। ये यादों के पक्षी होते हैं। ये पंछी जब कागज पर उतरने लगते हैं, तब उस लेखक की उस समय की मानसिकता, वृत्ति-प्रवृत्ति, प्रतिभा, लेखन-शैली, जीवन-दृष्टिकोण उस बीते अनुभव में घुल-मिल जाते हैं। घुल-मिलकर ही वे बीते अनुभव व्यक्त होते हैं। लेखक गंभीर वृत्ति का है कि विनोदी, वृद्ध है कि युवक, जीवनवादी है कि कलावादी- इस पर उसकी अभिव्यक्ति का स्वरूप आधारित होता है। आत्मकथा में व्यक्त अनुभव की यादें होती हैं। इसी कारण इसे हम 'साहित्य में व्यक्ति यथार्थ' कहें। जीवन की वास्तविकता से अपना नाता बतलाते हुए भी वे उससे कुछ दूरी रखते हैं।"[33] आत्मकथा अनुभव के आधार पर व्यक्त की जाती हैं यह अनुभव कृत्रिम नहीं होता। यह जीवन प्रसंगों के यादों की कहानियां होती हैं। आत्मकथा व्यक्त अनुभव के अलावा अनुभव की यादें होती हैं जिनको यथार्थ के पैमाने पर देखें तो यह व्यक्त यथार्थ के रूप में पाठकों के सामने आती हैं। दलित समाज की कुछ ऐसी भी जातियाँ हैं जो अपराधिक प्रवृत्ति को परंपरागत रूप से आगे बढ़ा रहे हैं। लक्ष्मण गायकवाड ने अपनी आत्मकथा 'उचक्का' में इसी प्रवृत्ति को दिखाया है। "चोरियाँ कैसे की जाएँ, इसे सिखलाने वाले दल हमारी जाति में होते हैं। अन्य स्थानों पर बच्चों की पढ़ाई के लिए शिक्षक होते हैं। बच्चे ठीक से पढ़ें-लिखें, इसलिए शिक्षक और मां-बाप उसकी पिटाई भी करते हैं। परंतु हम उठाईगीरों में सब कुछ भिन्न है। हमारे यहाँ बच्चों को चोरियाँ सिखलाने के लिए अलग-अलग प्रकार के दल होते हैं। हमारे यहाँ

चोरियों के चार प्रमुख प्रकार किए गए हैं-1. खिस्तंग मतने (जेबकतरे), चप्पल-मुठल (चप्पल अथवा गठरी की चोरी), 2. पड्डा घालने (चतुराई से सामनेवाले को बेवकूफ बनाकर उसका माल ऐठना), 3. उठेवरी (बातचीत करते-करते किसी को फाँसना) इसके प्रशिक्षित शिक्षक भी हैं। यह पढ़ाई पूरी होने के बाद उस लड़के को अपनी पहली छह माह की कमाई अपने शिक्षक को देनी पड़ती है।"[34] भारतीय सामाजिक व्यवस्था में बच्चों को शिक्षा के लिए प्रेरित किया जाता है, जिससे वह पढ़ें और अपने बौद्धिक स्तर को बढ़ा सकें, लेकिन दलित समाज में कुछ ऐसी भी जातियाँ हैं जिनको पढ़ाई के स्थान पर चोरी सिखाई जाती है क्योंकि इस समाज के पास जीविका चलाने के कोई भी साधन नहीं है। इन्हें समाज के अन्य लोग इनकी जाति के कारण अपने यहाँ काम नहीं करने देते है। जाति के कारण ही उन्हें चोर मान लिया जाता है। इसलिए यह जातियाँ मजबूरी में चोरी का कार्य करती हैं। यह अपने आने वाली पीढ़ी को परंपरागत रूप से चोरियाँ सिखाती हैं।

दलित समाज में शिक्षा को लेकर एक आम धारणा बनी हुई थी कि अगर अपने बच्चे को शिक्षित करेंगे तो दैवीय प्रकोप का सामना करना पड़ेगा। यह सभी आत्मकथा में देखने को मिलती है और उचक्का आत्मकथा में इसका उदाहरण (अंधविश्वास) देखने को मिलता है। "तूने अपने लड़के लक्ष्या को स्कूल में भरती कर दिया है, इसी कारण हमारे बच्चों को उल्टियाँ और टट्टी हो रही हैं। इसके पहले आज तक कभी इस बस्ती में हैजे की बीमारी नहीं आई थी। आज तक कभी कोई बीमारी नहीं हुई थी। बस! तेरा यह लड़का लक्ष्या जैसे ही स्कूल में जाने लगा, इधर बीमारी शुरू। देख मार्तंड, (मेरे बाबा का नाम) हम लोग बामन-लाला तो है नहीं कि लड़के से पढ़ाई करवाएँ। हमारी बिरादरी में आज तक क्या कोई स्कूल गया है? तुलसीराम और पांडुरंग कहने लगे, अरे मार्तंड, अपनी जाति में आज तक कोई पढ़ लिख सका है क्या? अपने बच्चे अगर स्कूल जाने लगे, तो हम सभी का वंश डूब जाएगा। यल्लामा देवी का प्रकोप हो जाएगा। देख मार्तंड, हम फिर कहते हैं कि लक्ष्या को स्कूल से निकाल ले। अगर वह फिर से स्कूल गया तो हम जात-पंचायत बिठायेगे और तुझे बहिष्कृत करेंगे।"[35] दलित समाज की आम धारणा बन चुकी थी कि अगर किसी भी बच्चे को स्कूल में अगर भर्ती करा

देंगे तो उनकी कुलदेवी (ग्राम देवी) उनसे नाराज हो जाएंगी। इससे उनके बच्चों और उनके समाज पर एक बहुत ही विनाशकारी प्रभाव पड़ेगा। दलित समाज में बच्चों को अशिक्षित करने के लिए यह भ्रम फैलाए गए थे, और कुछ लोग अपने बच्चों को पढ़ाना चाहते थे लेकिन आर्थिक स्थिति ठीक न होने के कारण वह उनका दाखिला स्कूलों में नहीं करा सकते है। लेकिन ऐसा नहीं है कि सभी सवर्ण जातियाँ या सभी लोग उसका विरोध करते थे गाँव में एकाद लोग ऐसे होते थे जो इसका समर्थन भी करते थे। उचक्का आत्मकथा में लक्ष्मण गायकवाड़ ने बताया कि जब वह विद्यालय में अनुपस्थित रहने लगे तो एक ब्राह्मण शिक्षक ने उनकी अनुपस्थिति का कारण पूछा और लड़के को उनके घर पर भिजवा कर बुलवाया। दलित समाज में अंधविश्वास और भूत-प्रेत को लेकर एक आम धारणा थी और व्यक्ति कोई भी बीमार पड़ता था तो सर्वप्रथम उसे झाड़-फूंक के तरीकों से ठीक करने का प्रयास किया जाता था इसीलिए कई लोगों की मृत्यु भी हो जाती थी।

दलित समाज ने अपनी आजीविका के लिए जो भी काम करते थे उनका उल्लेख अपनी आत्मकथा में किया है। ज्यादातर दलित समाज सवर्णों के यहाँ गुलाम या दास के रूप में कार्य किया करते थे जिससे वह अपने परिवार का पेट भर सके लेकिन सारा दिन काम करने के बाद भी उन्हें भर पेट भोजन नहीं मिलता था। बेबी कांबले ने डोम समाज के विषय में विस्तार पूर्वक बताया है। डोम का मुखिया येसकर होता था जो गाँव के चबूतरे पर बैठ कर के प्रत्येक व्यक्ति को कौन सा कार्य करना यह निर्देशित करता था यह अमुख के यहाँ जाकर काम करना है या कौन-सी गली साफ करनी है। इन सबका निर्धारण येसकर करता था, शाम के समय उन्हें मजदूरी के रूप में सवर्णों के यहाँ से जो भी बांसी रोटी मिलती थी उसका सभी लोगों में बँटवारा किया जाता था। दया पवार ने भी अछूत आत्मकथा में इसका वर्णन किया है। ‘‘येसकर पारी तो कई बार भीख लगती। परंतु उन दिनों गुलामों को गुलामगिरी का एहसास नहीं होता था उसे अधिकार समझते। हर हफ्ते येसकर पारी बदलती। गाँव में मराठा-मंडली के दो जबरदस्त गुट। ठीक महारवाड़ा की तरह। एक कुल के मराठे पवारों को येसकर

पारी बाँटते, तो दूसरे रूपवते को। होली पर महार पहले अंगारे किसे दे, इस समस्या को लेकर गाँव में पापल और आवारी लोगों में भयंकर संघर्ष होता।

रोटी माँगने अक्सर स्त्रियाँ जातीं। जिस घर में स्त्रियाँ न होती, उस घर से कोई बूढ़ा व्यक्ति झोली लेकर जाता। जाते समय वह हाथ में झुनझुने वाली लाठी ले जाना न भूलता।

इस लकड़ी की भी महारों में एक परंपरा है। कोई कहता, इस लकड़ी में पहले झंडा भी होता था। हम राज्य करते थे। युद्ध में हार गए। 'ये लोग यदि संगठित रहेंगे तो बहुत भारी पड़ेंगे। लकड़ियों-सा फाड़ डालो इन्हें। हर गाँव के प्रवेश द्वार पर टाँग दो। उनके झंडे, हथियार छीन लो और गुलामीं की निशानी स्वरूप लाठी थमा दो।' कहते हैं, तब से महारों के हाथ में लाठी आ गई। बाद में मैं पढ़-लिखकर इन बातों का मर्म समझने लगा। एक दिन बाबा साहब की एक किताब पढ़ने को मिला 'शूद्र मूल रूप से कौन थे'। तब इस इतिहास की कुछ कड़ियाँ मुझे जुड़ती नजर आईं।"[36]

मराठी दलित समाज के लोगों के रीति-रिवाज अन्य समाज से अलग थे, पोतराज और गोधवा जैसे कार्यक्रम होते थे, जो केवल दलित समाज के लोग ही मनाते थे। दलित समाज के रीति-रिवाज हिंदू धर्म से अलग थे। इनके यहाँ किसी भी अनुष्ठान में बलि का प्रावधान मिलता है। हिंदू धर्म के त्यौहार भी दलित समाज मानते थे, लेकिन उनकी प्रक्रिया और तिथि में अंतर देखने को मिलता है। "हर गाँव में होली अलग-अलग तिथि को मनाई जाती थी। फागुन की अमावस्या के तीसरे दिन जो होली मानती थी उसे 'तेरसा शिमगा' कहते थे। तेरसा शिमगा मनाने वालों को 'खदरों' की उपमा दी जाती थी क्योंकि वे फागुन महीना लगते ही होली की पुरण पोली (चने की दाल और गुड़ की मीठी रोटी, जो महाराष्ट्र में होली के पारंपरिक पकवान है।) तथा मटन के बड़े खाने की तैयारी करने लगते थे। तेरसा शिमगा की देखा-देखी कुछ गाँवों में आठवें नौवें दिन ही होली जलाने लगी, इसी 'समय की होली' कहा जाता है। इस होली के अलावा पूर्णिमा को मनाई जाने वाली होली सभी के लिए होती थी। इसके बाद भी कुछ गाँवों में होली जलती थी, इसे 'भद्र शिमगा' कहा जाता था। पूनम तक सब

की होली देखकर गरीबों को दुख होता था सो वे सबसे आखिर में अपनी होली जलाकर खुशी जाहिर करते थे। इसके बाद सब भद्र होगा अर्थात भला होगा, ऐसी मान्यता थी।"[37] उर्मिला पवार बताती कि उनके गाँव में तेरसा शिमगा मनाया जाता, सारे लड़के सात-आठ दिन पहले नदी के पास पहाड़ी पर जाकर जंगल की सूखी घास-फूस और टहनियों से चंडकी की देवी की चट्टान को अच्छी तरह ढक देते। होली के दिन बस्ती के सारे बड़े-बूढ़े गाजे-बाजे के साथ पहाड़ी पर जाते और चंडकी देवी की चट्टान को हल्दी, कुमकुम लगाकर नारियल चढ़ाकर पूजा करते हैं। पूजा के उपरांत उस पत्थर को जला दिया जाता और जलाते समय चंडकी देवी से भावी जीवन में सुख समृद्धि प्राप्ति का आवाहन किया जाता। आह्वान के बाद जोर-जोर से चिल्लाकर गंदी गंदी गालियाँ दी जाती और जोर जोर से कूकने की आवाजें निकली जाती जिससे अन्य गाँवों तक सुनाई देता। इस प्रकार वह बताती हैं कि उनके गाँव में इसके बाद अगले दिन पूजा की जाती और फिर होली मनाई जाती।

दलित समाज में शादी-विवाह का कार्यक्रम कहीं-कहीं हिंदू परंपरा के आधार पर किया जाता था। लेकिन बौद्ध समाज के प्रभाव के कारण बौद्ध धर्म से भी विवाह संपन्नहो रहे हैं। "विवाह के अवसर पर गाँव वालों को भोजन के अतिरिक्त और कोई काम नहीं था। श्वेत वस्त्रधारी बौद्ध आचार्य ने विवाह की सामग्री लाने से लेकर विवाह संपन्न करवाने तक, पूरी जिम्मेदारी ली हुई थी। उन्होंने दीवार के पास रखी मेज पर सफेद कपड़ा बिछाकर, उस पर गौतम बुद्ध और डॉ.. अंबेडकर की तस्वीरें रख दी तथा उन्हें फूल के हार पहना दिये। गौतम बुद्ध की तस्वीर पर फूल भी चढ़ाए गये। एक थाल में पाँच मोमबत्तियाँ चिपका कर खड़ी की गयीं। तथा पीतल के गिलास में रखे चावल में अगरबत्तियाँ खोस दी गयी। एक छोटी-सी मटकी के पानी में पीपल की डाली तथा धागे के बंडल का छोर, डुबोकर रखा और फिर वधू के लिए साड़ी भेजने का आदेश दिया। वधू के लिए खरीदी गई सफेद साड़ी, ब्लाउज और हल्दी-कुमकुम लेकर वर की बहनें, भाभियाँ, चाचियाँ आदि वधू के जनवासे में गई।"[38] बौद्ध धर्म में बौद्ध आचार्य वैवाहिक कार्यक्रम संपन्न कराते हैं। वह वर-वधू से 22 प्रतिज्ञाएं कराते हैं और शादी के लिए उस गाँव के सभी सदस्यों से अनुमति माँगते है। इसके उपरांत वर-वधू को मंगलसूत्र पहनता है,

इस प्रकार विवाह संपन्न होता है। दलित समाज में विवाह को लेकर कोई कठोर व्यवस्था नहीं है। इसमें विवाह होने के उपरांत अगर पति या पत्नी अलग होना चाहते है तो दोनों एक दूसरे से अलग हो सकते है। और अन्य व्यक्ति/महिला या अन्य धर्म के व्यक्ति/महिला के साथ विवाह करके या आपसी सहमति से रह सकते है। वर या वधू की मृत्यु के बाद वर किसी भी महिला से शादी कर सकता है और वधू किसी पुरुष से शादी कर सकती है। यह एक आम धारणा दलित समाज में सभी जातियों में पायी जाती है। हिंदू समाज में पुरुष विधुर होकर भी शादी कर सकता है लेकिन महिला के विधवा होने पर कठोर परंपराएं हैं, लेकिन दलित समाज में स्वतंत्र रूप से अपना वर/वधू चुन सकते है, और नए जीवन साथी के साथ जीवन शुरू कर सकते है।

भारतीय समाज में दलितों को अछूत समझा जाता है, उन्हें गाँव की दक्षिण दिशा की ओर बसाया जाता है। किसी भी स्थिति में स्पर्श करने की मनाही होती है अगर रास्ते पर जाते समय सवर्ण मिल जाता तो उन्हें सडक छोड़कर नीचे उतरना होता और उनका अभिवादन करना होता। ऐसा नहीं है कि अछूत की समस्या केवल उच्च जातियों में है। निम्न जातियों में भी उच्चता और निम्नता का बोध है। हर एक जाति अपनी से नीचे उपजाति खोज लेती है और उनके साथ ब्राह्मणवादी व्यवहार करती है। दलित समाज के अंदर भी अछूत की प्रवृत्ति दिखाई देती है।

"मेरे ससुराल की औरतें, दूसरे ही कारण से आपस में फुसफुसा रही थीं और मुँह बनाती हँस रही थीं। एक कह रही थी कि हरिश्चंद्र को हम 'पानों' के घर लड़की नहीं मिली जो इस 'बेले' की बेटी ब्याह लाया। सिंधुदुर्ग जिले के हमारे समाज में 'पाने' और 'बेले' नामक दो जातियाँ थीं। शिवजी को बेल चढ़ाने वाले 'बेले' और कोई भी पत्ता (पान) चढ़ाने वाले 'पाने' एक कहलाते थे। यहाँ 'बेले' पिछड़े हुए तथा 'पाने' प्रगतिशील समझे जाते थे। हरिश्चंद्र 'पाने' था। रत्नागिरी में ऐसी उपजातियाँ नहीं थी, लेकिन वह सब मुझे 'बेले' का मान कर, आलोचना कर रही थी। सुनकर मुझे हँसी आ रही थी।"[39]

भारत में हिंदू धर्म के साथ-साथ मुस्लिम, बौद्ध, जैन, पारसी, सिख आदि धर्मों के लोग निवास करते हैं। मुख्यतः हिंदू धर्म में ही जातिगत विभेद दिखाई देता है अन्य धर्मों में यह विभेद कम देखने को मिलता है। दलित समाज ने डॉ. भीमराव अंबेडकर के बौद्ध धर्म स्वीकार कर लेने के बाद बहुत सारे समुदाय ने भी बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था। दलित समाज का एक बहुत बड़ा हिस्सा सिक्ख एवं मुस्लिम धर्म स्वीकार करता है लेकिन वहाँ भी दलितों की जाति के कारण भेदभाव होते है। शेष लोग जो न ही बौद्ध हुए, न ही सिक्ख, मुस्लिम वह हिन्दू धर्म में ही रहकर उसको सुधारने की बात करते है। "हम आप लोगों के विरुद्ध कभी नहीं गए। आपने अगर पूजा की है तो हमें भी पूजा ही की, नमाज नहीं पढ़ी। आपने गाय को पूज्य माना, तो हमने भी कभी गाय का निरादर नहीं किया। हमने तमाम हिंदू रीति-रिवाजों को मन से अपनाया। इसके बावजूद आप लोगों की कुदृष्टि हम पर हमेशा बनी रही। हमारे लिए आप की भृकुटी हमेशा बनी रही। आपके घर में रहकर, आपका ही दिया खाने वाले आपके सगे आपके दुश्मन हो गए। लेकिन हम कभी आपके दुश्मन नहीं बने। लेकिन तब भी हम आपको अपना ही मानते आए। आपकी संस्कृति को जीवित रखते आए हम। हमने आपका थूका हुआ भी अपने हाथ पर लिया। आप के प्रति ईमानदार रहे। हमारी सच्ची निष्ठा आप में रही। फिर क्यों हमारे हिस्से में सिर्फ आपकी करना ही आई? आप लोगों ने हमसे कदम-कदम पर बेईमानी की, हर जगह छला लेकिन हमने कभी पलटकर बेईमानी करने की सोची भी नहीं। चोकर-भूसी की रोटी खाई। झोपड़ी को माल समझा। अपने घोर, कारुणिक दारिद्र्य को अपना स्वर्णकाल मानते रहे।"[40] दलित समाज हिंदू समाज की सारी रीति-रिवाज एवं परंपरा को अपनाता है और अपने पूर्वजों की परंपराएं और धार्मिक त्यौहार को भूला देता है, तब भी दलित समाज के प्रति जो भाव था वह नहीं बदलता है। इसी बात की कुंठा आत्मकथा में देखने को मिलती है कि हमने तो अपना अस्तित्व तक खत्म कर दिया और आपके दिए हुए परंपराओं और रीति-रिवाजों को ओढ़ कर चल रहे हैं फिर भी यह घृणा क्यों?

लक्ष्मण गायकवाड ने अपनी आत्मकथा में मजदूरों के लिए संघर्ष करते हैं। अन्य मिल कर्मचारियों की अपेक्षा इनकी मिल के कर्मचारियों को कम वेतन, सुविधाएं दी जाती थी। जिस कारण मजदूर ब्याज पर पैसे लेते और व्यापारियों पैसे वसूलने के नाम पर उनकी पिटाई भी करते थे। वेतन का ज्यादा हिस्सा ब्याज में ही चला जाता था। सारा दिन मेहनत करने के बाद भी वह अपने परिवार की आर्थिक तंगी को नहीं दूर कर पा रहे थे। "मजदूरों की असुविधाएँ बढ़ने लगीं। वेतन कम और जो वेतन होता उसमें से होटल की चाय का कॉपी भी लेना पड़ता था। रातपाली में नींद न आए, इसलिए मजदूर दो-तीन बार चाय पीते। इधर मैनेजमेंट शोषण करती, उधर होटल का मालिक मजबूरी का फायदा उठाता। मजदूर चाय बहुत पीते। चाय में चीनी के बजाय होटल मालिक सेकरीन डालता। इस कारण बीमारियां होती। बीमारी हो तो मिल का अपना दवाखाना नहीं। सुविधाएं नहीं। वेतन से सारे खर्च चलाना मुश्किल हो जाता था।"[41] मिल में कामकर रहे कर्मचारियों की शारीरिक शोषण और आर्थिक शोषण दोनों हो रहा था। उन्हें कम वेतन दिया जाता था और मूलभूत सुविधाएँ भी नहीं मिलती है। इन सभी मुद्दों को लेकर लक्ष्मण गायकवाड ने एक आंदोलन किया जो कि एक महीने तक चला और उन्होंने अन्य मिलों के मजदूरों के वेतन के समान उनको वेतन और सुविधाओं की मांग की। महीने भर चले आंदोलन के बाद मिल के मैनेजर ने उनकी बातें मानी और इन्हें वेतन और अन्य सुविधाएँ देने का वादा किया। जिससे मिल कर्मचारियों बहुत प्रसन्न हुए।

दलित समाज में भी ब्राह्मणवाद और सामंतवाद के तत्त्व दिखाई देते हैं, यह समाज सबसे निचले पायदान पर रहा है लेकिन शोषण करने के लिए उसने भी अपने जाति में उपजातियाँ और अपने से निम्न जातियाँ खोज ली है, साथ ही साथ पुरुष महिलाओं के साथ पित्तसत्तात्मक जैसा व्यवहार अपने घर, समाज में करता है। "समाज में हमें गुलाम बना कर रखा था लेकिन हम गुलाम भी इंसान ही थे। हमारी भी इच्छा होती कि हम भी किसी पर अपनी हुकूमत चलाएँ, किसी को गुलाम बनाएँ। पर हमारी हुकूमत कौन साइन करता...? इसलिए हमने अपने घर के लोगों को गुलाम बनाने की सोचा। और गुलाम बनाया पराए घर से आई हुई लड़की अर्थात बहू को। सात, आठ, नौ या दस वर्ष

की लड़की को अपने बेटे के साथ ब्याहकर लाते। पाँच-छह साल की लड़की को तो यह भी पता नहीं चलता कि उसकी शादी भी हुई है या नहीं। शादी यानी कि आठ दिन तक हंगामा।"[42] मराठी समाज में ज्योतिबा फूले ने दलितों के उद्धार के लिए सत्यशोधक समाज की स्थापना की। महिलाओं के लिए सावित्रीबाई फूले के साथ मिलकर उन्होंने कई विद्यालय खोलें। ज्योतिबा ने ब्राह्मणवादी साजिशों के विरुद्ध अपने पूरे जीवन को समर्पित दिया। लेकिन आज भी दलित शोषण के विरुद्ध एकजुट होकर नहीं लड़ते है इसलिए आज भी शोषण का शिकार हो रहे है। "मैं सोचने लगा कि महात्मा ज्योतिबा फूले ने संपूर्ण मानव-जाति पर बहुत बड़ा उपकार किया, अतुलनीय उपकार। परंतु उसी का एक वंशज यहाँ अज्ञान की खाई में पढ़ा था। कहीं पर भी जाइए, जाति जरूरत बीच में आएगी। माली, ब्राह्मण और मैं सब एक ही धरती के पुत्र हैं। आज जमीन के ऊपर हैं, कल उसके नीचे जाने वाले हैं। वहाँ किसी की भी जाति का पता नहीं चलेगा। विषमता के ये सारे नखरे धरती के ऊपर ही चलते है।"[43] दलित रचनाकारों ने कहा कि जब तक धरती में है, तभी तक शोषण, अन्याय और अस्पृश्यता बना हुआ है जैसे ही मृत्यु हो जाएगी। सभी बराबर हो जाते हैं और उसी धरती में जाकर मिल जाते हैं इसलिए जब तक जीवित है तभी तक जाति और उपजातियों में बंधे हुए हैं, मृत्यु के बाद सभी में मिट्टी में मिल जाना हैं तो फिर यह विभेद धरती पर क्यों?

दलित समाज डॉ. भीमराव अंबेडकर की विचारों को अपने जीवन में समाहित कर रहा है। शिक्षित होकर अपने अधिकारों के लिए सामाजिक संघर्ष भी उस दौर में दिखाई देने लगे थे। डॉ.. भीमराव अंबेडकर के धर्म परिवर्तन का मराठी समाज पर बहुत प्रभाव पड़ा जिसका उल्लेख दया पवार ने अपनी आत्मकथा में किया है। "बाबा साहब ने नागपुर में 1956 में अपने लाखों ने अनुयायियों को बौद्ध धर्म की दीक्षा दी। इस ऐतिहासिक कार्यक्रम में मैं नहीं पहुंच सका। परंतु इस क्रांतिकारी परिवर्तन की आहट घर-घर पहुंच चुकी थी। अनेक परिवारों में अपने घर की दीवारों पर टँगी देवी-देवताओं की तसवीरें तोड डाली। पूजाघर के देवी-देवताओं की मूर्तियाँ कौड़ी-पत्थर समझ फेंक दी गई। यात्र-मरीना-म्हसोबा-खंडोबा -इन परंपरागत भगवानों से मुँह फेर लिया गया। बकरे-मुर्गे

काटना बंद हो गए। वैसे हमारे घर में नाममात्र का पूजा स्थल था। चाँदी की खंडोबा-बहिरोबा की छोटी मूर्ति माँ ने खासतौर पर बचपन में तैयार करवाई थी। वह चाँदी के होने के कारण माँ ने चीथड़ों में बाँधकर कहीं रख दिए।"[44] डॉ. अंबेडकर का प्रभाव मराठी दलित आत्मकथाकारों के जीवन पर दिखाई पड़ता है। सामाजिक आंदोलनों एवं धार्मिक परिवर्तन का प्रभाव उनके जीवन में पड़ता है। शिक्षित जनता ही नहीं डॉ.. अंबेडकर के विचारों को स्वीकार कर रही है बल्कि बहुत बड़ा जनमानस था जिसके सामाजिक जीवन में बड़ा परिवर्तन आया था। डॉ. अम्बेडकर के विचारों को मराठी समाज समझ रहा था इसलिए वहाँ सामाजिक, साहित्य जागरूकता पहले देखने को मिलती है। बेबी कांबले ने दलित समाज और आज समकालीन समय में दलित समाज के प्रतिनिधित्व करने वाले लोगों के विषय में बताया है कि "जिसने दलितों के लिए इतना किया या जो दलितों का भगवान है, नई पीढ़ी को उसके बारे में कोई ज्ञान नहीं है। बच्चों को गौतम बुद्ध, अंबेडकर कौन हैं, यह भी पता नहीं है। भगवान-भगवान करते हैं, संकष्टी चतुर्थी, शनिवार, गुरुवार को उपवास करते हैं। हमारी जात को सँवारा अंबेडकर ने और सर झुकाते हैं भगवान के आगे। जिस भगवान ने हमें गुलामी करने के लिए भी रचा था आज उसी भगवान को मानने लगे हैं। हमारे बच्चे इतने नालायक निकलेंगे, यह कभी सोचा ही नहीं था। हमने परजीवी पैदा किये। अब हमारे नेता भी भ्रष्ट हो गए हैं। उन्हें दिल्ली की गद्दी चाहिए। यह देख मेरा मन रो पड़ता है। अगर आज भीमदेव न होते तो हम लोग पडे होते किसी टूटी-फूटी झोपड़ी में और अन्न के लिए जंगलों में भटक रहे थे। पेट की आग बुझाने के लिए मरे जानवर खा रहे हो। एक हाथ-भर की लँगोटी पहने किसी झोपड़ी में सड़ रहे होते। अन्न के बिना तड़प रहे होते। दूसरों के गुलामी दिन-रात बजा रहे होते। सेवा में थोड़ी-सी भी गलती होती तो चाबुक की मार खा रहे होते। गाँव का बचा-खुचा बासी भोजन तुम लोगों का नसीब होता, उसी अन्न पर बच्चे पलते। लेकिन अंबेडकर ने हमें इन सब से मुक्ति दिलाई। हमारे लिए वसूल की तरह है जिन्होंने हमारे जीवन का अंधकार खत्म कर दिया।"[45]

डॉ. भीमराव अंबेडकर का प्रभाव मराठी दलितों आत्मकथाओं में देखने को मिलता है। आत्मकथाकार सामाजिक आंदोलन भी कर रहे हैं, धार्मिक अनुष्ठान का विरोध कर रहे हैं। वह सबको शिक्षित एवं सामाजिक अधिकारों से परिचित करवा रहे हैं। साहित्य के समाजशास्त्र की अवधारणा दलित मराठी आत्मकथा में है। लेखक अपने समाज एवं अपने समाज में आ रहे परिवर्तनों और अपने अनुभव के माध्यम से वह यथार्थ का चित्रण कर रहा है। जिससे पाठक अपने आप को एक जुड़ाव महसूस करता है। रचनाकार अपने परिवेश एवं पूरी रचना प्रक्रिया का वर्णन भी करता है, सभी आत्मकथाकार परिस्थितियों अलग-अलग है लेकिन उनका सामाजिक शोषण का आधार उनकी जाति है। दलित समाज अपनी कृति के माध्यम से अपने समाज को जागरूक और सामाजिक परिवर्तन की बात करता है जिसका प्रभाव प्रभाव दलित समाज पर देखने को मिलाता है।

सन्दर्भ सूची:

1. डफ, जेम्स कनिंघम ग्रांट; अनुवादक-लक्ष्मीकांत मालवीय; मराठों का इतिहास; महामना प्रकाशन मंदिर, महामना मालवीय नगर, इलाहाबाद; संस्करण नवीन; पृष्ठ 4-5
2. वही, पृष्ठ 9-10
3. सुमन, क्षेमचंद्र; मराठी और उनका साहित्य; राजकमल पब्लिकेशन लिमिटेड, दिल्ली; संस्करण प्रथम; पृष्ठ 12
4. डफ, जेम्स कनिंघम ग्रांट; अनुवादक-लक्ष्मीकांत मालवीय; मराठों का इतिहास; महामना प्रकाशन मंदिर, महामना मालवीय नगर, इलाहाबाद; संस्करण नवीन; पृष्ठ 10
5. वही, पृष्ठ 12
6. सुमन, क्षेमचंद्र; मराठी और उनका साहित्य; राजकमल पब्लिकेशन लिमिटेड, दिल्ली; संस्करण प्रथम; पृष्ठ 13
7. डफ, जेम्स कनिंघम ग्रांट; अनुवादक-लक्ष्मीकांत मालवीय; मराठों का इतिहास; महामना प्रकाशन मंदिर, महामना मालवीय नगर, इलाहाबाद; संस्करण नवीन; पृष्ठ 15
8. वही, पृष्ठ 16
9. मेहरोत्रा, श्रीराम; साहित्य का समाजशास्त्र मान्यताएं एवं स्थापना; चौखम्भा विश्वभारती, वाराणसी; संस्करण 1980; पृष्ठ 9
10. वही, पृष्ठ 11
11. वही, पृष्ठ 18
12. पांडेय, मैनेजर; साहित्य और समाजशास्त्री दृष्टि; आधार प्रकाशन, पंचकूला, हरियाणा; संस्करण 2016; पृष्ठ 141-142
13. वही, पृष्ठ 142
14. वही, पृष्ठ 151
15. वही, पृष्ठ 152
16. वही, पृष्ठ 167-168
17. वही, पृष्ठ 175
18. वही, पृष्ठ 191
19. वही, पृष्ठ 192
20. वही, पृष्ठ 198-199
21. काजल, अजमेर सिंह. दलित आत्मकथाएं वेदना, विद्रोह और सांस्कृतिक रूपांतरण; अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लिमिटेड, नई दिल्ली; संस्करण 2018; पृष्ठ 9
22. दाढ़े, वीणा; हिंदी- मराठी दलित आत्मकथाएं; अमन प्रकाशन, कानपुर; संस्करण 2017; पृष्ठ 56
23. काजल, अजमेर सिंह; दलित आत्मकथाएं वेदना, विद्रोह और सांस्कृतिक रूपांतरण; अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लिमिटेड, नई दिल्ली; संस्करण 2018; पृष्ठ 33
24. नैमिशराय, मोहनदास; हिंदी दलित साहित्य; साहित्य अकादमी, नई दिल्ली; संस्करण 2018; पृष्ठ 201

25. काजल, अजमेर सिंह; दलित आत्मकथाएं वेदना, विद्रोह और सांस्कृतिक रूपांतरण; अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लिमिटेड, नई दिल्ली; संस्करण 2018; पृष्ठ 19
26. दाढ़े, वीणा; हिंदी- मराठी दलित आत्मकथाएं; अमन प्रकाशन, कानपुर; संस्करण 2017; पृष्ठ 24
27. नैमिशराय, मोहनदास; हिंदी दलित साहित्य; साहित्य अकादमी, नई दिल्ली; संस्करण 2018; पृष्ठ 195
28. तिवारी, बजरंग बिहारी; दलित साहित्य: एक अंतर्यात्रा; नवारुण, गाज़ियाबाद; संस्करण 2015; पृष्ठ 155
29. नैमिशराय, मोहनदास; हिंदी दलित साहित्य; साहित्य अकादमी, नई दिल्ली; संस्करण 2018; पृष्ठ 202
30. तिवारी, बजरंग बिहारी; दलित साहित्य: एक अंतर्यात्रा; नवारुण, गाज़ियाबाद; संस्करण 2015; पृष्ठ 153
31. वही, पृष्ठ 154
32. लिम्बाले, शरणकुमार; अक्करमाशी; अनु. सूर्यनारायण रणसुभे; वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2014; पृष्ठ 7
33. वही, पृष्ठ 21
34.गायकवाड़, लक्ष्मण; उचक्का; अनु. सूर्यनारायण रणसुभे; राधाकृष्ण प्रकाशन लिमिटेड, नई दिल्ली; संस्करण 2011 पृष्ठ 15
35. वही, पृष्ठ 19
36. पवार, दया; अछूत; अनु. दामोदर खडसे; राधाकृष्ण प्रकाशन लिमिटेड, नई दिल्ली; संस्करण 2016; पृष्ठ 57-58
37. पवार, उर्मिला; आयदान; अनु. सौ. माधवी प्र. देशपांडे; वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण 2010; पृष्ठ 49-50
38. वही, पृष्ठ 94-95
39. वही, पृष्ठ 139
40. काम्बले, बेबी; जीवन हमारा; अनु. ललित अस्थाना; किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण 2011; पृष्ठ 48
41. गायकवाड़, लक्ष्मण; उचक्का; अनु. सूर्यनारायण रणसुभे; राधाकृष्ण प्रकाशन लिमिटेड, नई दिल्ली; संस्करण 2011; पृष्ठ 109
42. काम्बले, बेबी; जीवन हमारा; अनु. ललित अस्थाना; किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण 2011 पृष्ठ 99
43. सोनकाम्बले, प्र. ई.; यादों के पंछी; अनु. डॉ.. सूर्य नारायण रणसुभे; राधाकृष्ण प्रकाशन लिमिटेड, नई दिल्ली; संस्करण 2004; पृष्ठ 91
44. पवार, दया; अछूत; अनु. दामोदर खडसे; राधाकृष्ण प्रकाशन लिमिटेड, नई दिल्ली; संस्करण 2016; पृष्ठ 169-170
45. काम्बले, बेबी; जीवन हमारा; अनु. ललित अस्थाना; किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण 2011; पृष्ठ 132